शाङ्कर वेदान्त में पूर्णता की खोज

डॉ0 राजीव द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग
आगरा पी0जी0 कालेज आगरा

1. पूर्ण मन–वाणी से परे

हमारे पास जानने का मुख साधन मन है तथा जाने हुए को अभिव्यक्त करने का मुख साधन वाणी है किन्तु 'पूर्ण' मन तथा वाणी से अगोचर है–**न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मः।**[1]इस विषय का ही विस्तृत वर्णन केनोपनिषद् में यद्यपि अन्य उपनिषदों में भी यह विषय बारम्बर आया है। मन से 'अपूर्ण' को ही जाना जा सकता है और वाणी से 'अपूर्ण' को ही कहा जा सकता है। कारण स्पष्ट है कि मन तथा वाणी की पहुंच सीमित तक ही है, असीमित न मन की पकड़ में आता है न वाणी की। मन विभाजित करके ही जानता है और वाणी विभाजित करके ही कह पाती है। जो सीमित है– और इसलिए विभक्त है– वह अपूर्ण ही है। सीमित कितना भी विशाल हो, असीमित के सामने वह तुच्छ ही है।

2. अपूर्ण से आवृत पूर्ण

ऋग्वेद अपूर्ण को 'तुच्छ्य' कहता है, उपनिषद् उसे 'अल्प' कहता है तुच्छ्य ने अर्थात ने 'आभु' को अर्थात् पूर्ण को आवृत कर रखा है–**तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्।**[2]इस अपूर्ण अथवा अल्प में सुख का अनुभव नहीं हो सकता–**नाल्पे सुखमस्ति।** सुख तो 'भूमा' अथवा 'पूर्ण' में ही है–**भूमा वै सुखम्।** विशाल सूर्य मण्डल को जैसे अपेक्षाकृत लघु मेघखण्ड भी इस प्रकार आवृत कर लेता है किस सूर्य मण्डल हमें दिखाई ही नहीं देता। उसी प्रकार तुच्छ्य अपूर्ण भी पूर्ण को इस प्रकार ढक लेता है कि पूर्ण का हमें अनुभव ही नहीं हो पाता–

घनच्छदृष्टिर्घत्रमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः
तथा बद्धवभ्दाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्रूपाऽहमात्मा[3]

हम मनो जगत् के अपूर्ण में ही विचरण करते रहते हैं।

---

[1]केनोपनिषद् 1.3 (ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2064।

[2]ऋग्वेद 10.129.3 (दयानन्द भार्गव, अभिनव वेदपाठमाला, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर 2016, पृ0–478।

[3]वेदान्तसार (परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली 2004), पृ0–173।

3. सीमित करने वाली शक्तिःमाया

जो पूर्ण अपूर्ण बना देती है उस शक्ति का नाम माया है—**मिमतिकरणं माया।** यह माया पूर्ण की ही शक्ति है जो जब सक्रिय होती है तो सृष्टि हो जाती है और वह जब निष्क्रिय हो जाती है तो प्रलय हो जाती है। ईश्वर इस शक्ति उपयोग स्वेच्छा से करता है अतः यह शक्ति उसके बन्धन का कारण नहीं बनती किन्तु जीव के सन्दर्भ में जीव इस शक्ति के सामने विवश है और इसलिए यह बन्धन का कारण बनती है और अविद्या कहलाती है।

4. माया की दो शक्तियाँ : आवरण तथा विक्षेप

माया अपनी दो शक्तियों को द्वारा पूर्ण को अपूर्ण बना देती है। यह दो शक्तियों आवरण तथा विक्षेप है।[4] आवरण का कार्य है पूर्ण को आवरित कर लेना और विक्षेप का कार्य उसे विक्षिप्त (प्रोजेक्शन) कर देना है जो वस्तुतः है ही नहीं। वस्तुतः तो पूर्ण ही है—**पूर्णमदः पूर्णमिदं** (ईशोपनिषद् शान्तिपाठ)। पूर्ण का नाम या रूप नहीं है किन्तु उसे माया नाम तथा रूप से आवृत कर लेती है। इस नाम तथा रूप का क्या स्वरूप है यह कहना कठिन है। पूर्ण का आवृत कर सके, ऐसी शक्ति किसमें है? इसलिए इस शक्ति को 'सदसदनिर्वचनीय' कहा जाता है। श्रुति ने इसे यक्ष कहा है—**ते हैते ब्रह्मणे महती यक्षे— मनसा हि वेदेदं रूपमिति वाचा हि नाम गृह्णाति**[5] यक्ष का अभप्राय है— आश्चर्यजनक। नाम और रूप महान यक्ष है, बहुत बड़े आश्चर्य है।

5. ऐन्द्रिक ज्ञान तथा कर्म की सीमा

वर्णन अपूर्ण का ही हो सकता है, पूर्ण का नहीं क्योंकि नाम और रूप अपूर्ण का ही होता है। यह अपूर्ण कभी निश्चल नहीं रह सकता क्योंकि यह सदा अपूर्णता को छोड़कर पूर्ण होना चाहता है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि जैसा हमने कह अल्प में सुख नहीं है, सुख तो भूमा में ही है। अपूर्ण के पूर्ण होने की इस इच्छा की पूर्ति के लिए या तो हम कुछ जानना चाहते या कुछ करना चाहते है इस प्रकार हमारा जीवन दो धाराओं में प्रवाहित हो जाता है— ज्ञानधारा तथा कर्मधारा। ज्ञानधारा में ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मधारा में कर्मन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि के सहयोग से कुछ जानती है तथा कुछ करती है। किन्तु इस प्रक्रिया से जानने का तथा करने का जो फल होता है वह सीमित अर्थात् अपूर्ण ही होता है। पूर्ण फिर भी हमसे चूक जाता है।

6. वैराग्य तथा लोकसंग्रह

कर्म का फल अपूर्ण है— यह बोध पूर्णता की खोज करने वाले को कर्मफल के प्रति अनासक्त बना देता है। तब उसका चित्तशुद्ध होता है। यह वैराग्य का प्रारम्भ—बिन्दु है। ऐन्द्रिक ज्ञान भी अपूर्ण का ही होता है— यह बोध उसे अन्तर्मुखता की ओर ले जाता है। यह साधना का प्रारम्भ है। वैराग्य तथा अन्तर्मुखता की निरन्तरता निदिध्यासन कहलाती है। इसे सबीज समाधि हि सकते हैं क्योंकि अभी हम अपूर्ण के ही

---

[4]वेदान्तसार, पृ0—173।

[5]शतपथ ब्राह्मण, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1988, 11.2.3.5, अपिच केनोपनिषद् 3.2।

साम्राज्य में है, 'पूर्ण' की प्राप्ति अभी नहीं हुई है, तथापि उसका परोक्ष ज्ञान हुआ है–**परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्**[6]**।** यह साधना जैसे –जैसे सघन होती जाती है– वैसे वैराग्य अर्थात् कर्मफल के प्रति अनासिक्त बढ़ती जाती है और कर्म की पकड़ शिथिल हो जाती है, क्योंकि पकड़ती वस्तुतः कर्मफल के प्रति आसक्ति ही है, न कि कर्म। तब हमारे कर्म निष्काम हो जाते है। जिससे हमारी हमारी सत्त्वशुद्धि हो जाती है।

तुलनीय–*A part from deeking of results, all life is spiritual, sacred or Nirvanic – a pure and inviolable existence*[7]

श्रीमद्भगवद्गीताकेशाङ्क्र भाष्य में फलासक्ति छोड़कर कर्म करने का फल ईश्वर की सन्तुष्टि–**ईश्वरो मे तुष्यतु इति– फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणा सत्त्वशुद्धिजा ज्ञान– प्राप्तिलक्षणासिद्धिः**[8] तथा सत्त्वशुद्धि बताया गया है।

निष्काम कर्म का फल लोकसङ्ग्रह भी है[9]। जहाँ तक इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रश्न है, वह भी कर्म के समान ही लोकयात्रा के लिये आवश्यक तो है किन्तु पूर्णता का बोध उस ज्ञान से भी नहीं होता, भले ही वह ज्ञान शास्त्र के स्वाध्याय में सहायक हो। अतः पूर्णता की खोज 'नेति नेति' के मार्ग से चालू होती है; न किसी कर्म का फल पूर्ण तक ले जा सकता है, न कोई ऐन्द्रिक ज्ञान पूर्ण का बोध करा सकता है। पूर्ण का अनुभव न किसी कर्म का फल है न किसी ऐन्द्रिक ज्ञान का फल है। तब ऐन्द्रिक ज्ञान तथा कर्म का प्रयोजन लोकयात्रा का निर्वहन तो हो सकता है किन्तु इनसे पूर्णता की आशा नहीं करनी चाहिए।

7. पूर्णता की उपलब्धि साधन– निरपेक्ष

पूर्णता का बोध कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व के अहंकार से अस्पृष्ट है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि मैंने पूर्णता को प्राप्त किया अथवा पूर्णता को जाना–

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः[10] (माण्डूक्यकारिका, अद्वैतप्रकरण, 39)

पूर्णता का बोध स्वयम्प्रभ है[11]। वह किसी साधन से साध्य नहीं है। वस्तुतः जो कुछ भी किसी साधन से सिद्ध होता है वह अनित्य होता है, क्योंकि प्राप्त होने से पहले उसका प्रागभाव होता है। और नष्ट होने के बाद भी उसका प्रध्वंसाभाव हो जाता है। यही उसकी अनित्यता है। जो अनित्य है वह कालानवच्छिन्न है। अतः उसे पूर्ण नहीं कह सकते।

8. पूर्णता की उपलब्धि कर्मनिरपेक्ष

जो पूर्ण है उसे नित्य अर्थात् कालानवच्छिन्न होना चाहिए काल से अवच्छिन्न होने का अर्थ उसमें कर्म की गति नहीं है। तुलनीय–

---

[6]श्री पंचदशी, भाग 1, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई 2011, 63।

[7] David Frawly, Vedantic Meditation, full circle Delhi, 2000, P. 28.

[8]श्रीमदभगवदगीता, शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2005, 2.48।

[9]उपरिक्त 3.25।

[10]माण्डुकाकारिका, अद्वैत प्रकरण, 39।

[11]पंचदशी, 7।

Matter, time, space and cau sation are ultimaely the same. We see matter, an inert or raw mate rial to be used, according to our seeking of results. To see results is to to creat matter, to turn things into manipulable objects[12]

अपि च–**कुर्वते कर्म भोगाय , कर्म कर्त्तृं च भुञ्जते**[13]

इसकायह अर्थ हुआ कि आत्मा सदा ही मुक्त है दूसरे शब्दों में पूर्ण सदा ही पूर्ण है। उसके अनुभवहोने में बाधक निरन्तर होते रहने वाला अपूर्ण का अनुभव है। इस अपूर्ण के अनुभव में पूर्ण के अनूभव को आवृत कर रखा है। कर्म में प्रवृत्त करने वाले अपूर्ण का अपना आकर्षण है क्योंकि वह प्रतिक्षण बदलता है और इसलिए सुंदर लगता है–**क्षणे .क्षणे यत्रवतामवैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** (शिशुपालवध महाकाव्य) । उपनिषद् इसे हिरण्यमय पात्र कहती है। महादेवी वर्मा ने इसे नभ की दीपावली बताया है–

मेरे प्रिय को भाता है तम के पर्दे में आना
हे नभ की दीपावलियों को तुम क्षणभर को बुझ जाना

9. त्याग और भक्ति

ऐसी स्थित में पूर्णता की अनुभूति कैसे हो? इस प्रश्न के दो उत्तर उपलब्ध हैं– एक उत्तर है कि वह त्याग से उपलब्ध होती है, दूसरा उत्तर है कि वह जिसका वरण कर ले उसे ही अनुभव में आ जाती है। त्याग का स्वर है कि न वह कर्म से प्राप्त होती है , न सन्तति, से न धन सेः वह केवल त्याग से मिलती है–**न कर्मणा न प्रज्ञया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।**[14]यह ज्ञान मार्ग का उत्तर है। किन्तु दूसरा उत्तर ज्ञान का भी निषेध करता है–

नयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष विवृणुते तनूं स्वाम्।।[15]

यह भक्ति मार्ग का उत्तर है।

10. कोई उपाय नहीं

काश्मीर शैव दर्शन एक तीसरा उत्तर दिया कि पूर्णता के अनुभव का कोई उपाय नहीं है– वह अनुपाय है। श्रीकृष्ण मूर्ति ने इसे दूसरे शब्दों में कहा कि सत्य की भूमि का कोई मार्ग नहीं है–*Truth is a pathless land*[16]उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी कर्मकाण्ड से सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपने चारों ओर एक काल्पनिक सुरक्षा की दीवार बनाकर यह मान लेता है कि वह सुरक्षित है। यह चारदीवारी उन विचारों की है जिन्हे अपनाकर मनुष्य अपने को सुरक्षि अनुभव करता है। यह विचार राजनैतिक तथा सांसारिक ही नहीं होते,मजहबी तथा दार्शनिक भी होते है। ये मनुष्य को मनुष्य से विभक्त कर देते हैं भूल से मनुष्य अपने आप को इन विचारों या मान्यताओं का ही पुतला मान लेता है, जबकि वास्तव में यह सभी विचारों या मान्यताएँ वह अपने परिवेश अर्थात् परिवार, समाज राष्ट्र

[12] David Frawly, ibid, P. 27

[13]पंचदशी, 30।

[14]महानारायणोपनिषद्, 4.12।

[15]कठोपनिषद्, 1.2.23।

[16]Krishnmurti Foundation Trust Ltd, 1980, P. 1

और राजनीति आदि से उधार लेता है, उनमें उसका अपना कुछ भी नहीं होता। यदि वह अपने को इस उधार की सामग्री से मुक्त कर ले तो उसकी शुद्ध चेतना में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को भिन्न करने वाला कोई तत्व नहीं रहेगा। यही अद्वैत की वह स्थिति है जहाँ अभय का भाव रहता अन्यथा तो दूसरे से सदा भय बना ही रहता है– **द्वितीयाद्वै भयं भवति।**[17]

11. स्वतन्त्रता का उपाय

जो कुछ हम बाहर से लेकर उसके साथ अपना तादात्म्य जोड़ लेते है वह बाहरी भाव हमें अपने आधीन बना लेता है। जब हम उस बाहरी तत्व से अपने को पृथक् समझ लेते है तब हम उसके बन्धन से स्वतंत्र हो जाते है। इस बाहरी तत्त्व मे अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना मुख्य है। यह दोनों हमें एक संकीर्ण चौखट में जकड़ लेते है। इस कारण हम एक को चुनना चाहते हैं तथा दूसरे को दूर रखना चाहते हैं। हमारा सारा विचार इन्हीं दो प्रवृत्तियों के इर्द– गिर्द घूमता रहता है। न हम किसी को चाहें और न किसी को दूर रखना चाहें, यही वास्तविक स्वतंत्रता है इस स्थिति में हम किसी व्यक्ति या पदार्थ को इसलिए नहीं चाहते िकवह हमें सुख देगा अपितु उस व्यक्ति या पदार्थ का स्वयं उसके लिए ही चाहते है। यही प्रेम है। प्रेम में केन्द्र में हम स्वयं नहीं रहते। प्रेम में तो हममें और दूसरों में भेद करने वाला तत्त्व ही नहीं रहता। हमारे लिए सब उतने ही प्रिय हो जाते है, जितने प्रिय हम स्वयं अपने लिए है।

12. कालानवच्छित्र आत्मा एका है

काल् कर्म तथा कारण– कार्यभाव से जो अवच्छित्र है वह अपूर्ण है, सीमित है। शुद्ध चेतना सर्वथा अनवच्छिन्न है, अतः वह पूर्ण भी है और एक भी है। वह संवित् रूप है।[18]ज्ञेय पदार्थ आते जाते रहते हैं किन्तु उनका ज्ञाता नहीं बदलता । अतः ज्ञेय पदार्थ अनेक हैं किन्तु ज्ञाता संविद् तो एक ही है। वही नित्य है। अतः उसे मृत्यु का भय नहीं। वहीं अमृत है। किसी अन्य पदार्थ से अमृत की आशा करना व्यर्थ है–**अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन**। [19]

यह संविद् जागृत अवस्था में शब्द स्पर्श आदि का अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से करती है; इन्द्रियों का माध्यम भिन्न–भिन्न रहता है किन्तु उन माध्यमों से जानने वाली संविद् एक ही रहती है।[20]

13. संवित् रूप आत्मा की स्वतंत्र सत्ता

यही संवित् स्वप्न में बिना इन्द्रियों के माध्यम के भी जागृत अवस्था वाले ही पदार्थों को केवल मन की सहायता से जान लेती है। इससे सिद्ध होता है कि यह संवित् जानने के लिए इन्द्रियों के आधीन नहीं है। सुषुप्ति अवस्था में यह संवित् मन के संकल्प– विकल्पों के बिना भी सुख का संवेदन कर लेती है, अतः सिद्ध होता है कि मन के संकल्प– विकल्प अर्थात् विचारों के बिना भी यह संवित् अपना कार्य कर

---

[17]वृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.2।
[18]पंचदशी, 3।
[19]शतपथ ब्राह्मण, 14.5.4.2।
[20]पंचदशी, 3।

सकती है। समाधि की स्थिति में यही संवित् सुख के संवेदन के बिना भी केवल अपने को जानती है। अतः इसकी सत्ता सुख के संवेदन से भी भिन्न सिद्ध होती है। यही संवित् की सत्ता की स्वतंत्रता है जिसके आधार पर हम अध्यात्म की स्थापना कर सकते है। अध्यात्म का अर्थ है कि कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का उपादान कारण नहीं है। स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि की स्थिति में क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर का भान नहीं रहता किन्तु आत्मा का भान रहता है। शरीर का भान न रहना व्यतिरेक है तथा आत्मा का भान रहना अन्वय है। इस प्रकार अन्वय–व्यतिरेक से आत्मा की शरीर से भिन्न स्थिति सिद्ध हो जाती है।

14. आत्मा की परमप्रियता रूप परमानन्दमयता

हम संसार के किसी भी व्यक्ति को अथवा पदार्थ को इसलिए प्रिय मानते है कि उसके द्वारा हमारी कोई कामना पूरी होती है। अतः सिद्ध हुआ कि परमप्रिय तो आत्मा ही है क्योंकि वह किसी और के लिए प्रिय नहीं है अपितु स्वयं अपने लिए ही प्रिय है। परमप्रियता ही परमानन्द दे सकती है। अतः आत्मा परमानन्दमय है–

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि

अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनि[21]

15. आत्मा ही ब्रह्म है

आत्मा सत् है क्यांकि वह प्रत्येक अवस्था में संवित् कि रूप में नित्य बनी रहती है। अतः वह सच्चिद् हैं तथा वही आनन्द रूप है अतः वह सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द ही ब्रह्म है। अतः आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म पूर्णता का ही दूसरा नाम है और क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है–**अयमात्मा ब्रह्म**[22] **।**अतः पूर्णता मेरा अपना शुद्ध स्वरूप है, मेरी अपनी आत्मा है जो मुझे सदा उपलब्ध है।

16. पूर्णता की अनूभूति में प्रतिबन्धक

इस सदा सर्वदा उपलब्ध पूर्णता की अनुभूति में बाधक प्रकृति है जिसे हमने ऊपर माया कहा है–**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्**[23] **।** इस प्रकृति के तीन घटक– सत्त्व, रजस् और तमस्। इस प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझ लेना अज्ञान अथवा अविद्या है। यह अविद्या ही सारे क्लेशों का मूल है इसलिए इसे कारण शरीर कहा जाता है। शरीर की अपूर्णता स्वतः स्पष्ट है इस शरीर का अविद्या है। अतः और अविद्या से जनित अस्मिता तथा राग– द्वेष सारे क्लेश अथवा अपूर्णता उत्पन्न करते हैं जिस अपूर्णता का सूचक अभिनिवेश अथवा मृत्यु का भय है जो आपिपीलिका ब्रह्मापर्यन्त सबमें दिखायी देता है।[24]

17. प्रकृति का विस्तार

इस प्रकृति के पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के तमागुण अंश से भोगायतन चतुर्दश भुवन, भोग्य पदार्थ अन्नादि तथा भोक्ता अन्नमय कोश अथवा स्थूल शरीर बनता है। अपञ्चीकृत पञ्च तन्मात्राओं के सत्त्वगुण

---

[21]पंचदशी, 9।

[22]बृहारण्यकोपनिषद् 2.5.19।

[23]श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.1।

[24]योगदर्शन, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2073, 2.3।

के अशं से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी से क्रमशः श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना, एवं घ्राण ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इन्हीं के रजोगुण के अंश से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ बनती है। पांच तन्मात्राओं के सम्मिलित सत्त्वगुण से मन तथा बुद्धि और सम्मिलित रजोगुण से पांच प्राण–प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान– बनते है। पंच तन्मात्राओं के सत्त्व तथा रजस् अंश से बना पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण तथा मन एवं बुद्धि–इन सत्रह घटकों से सूक्ष्म शरीर बनता है[25]।

18- तीन शरीर तथा पांच कोश

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर की यह त्रयी पांच कोशों का ही संक्षिप्त रूप है। स्थूल शरीर अन्नमस कोश है, पांच ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि ज्ञानमय कोश है, पांच कर्मेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश है, पाँच कर्मेन्द्रियों सहित पांच प्राणों से प्राणमय कोश बना है तथा कारण शरीर आनन्दमय कोश है। यह पांचों कोश कहलाते है क्योंकि आत्मा अथवा पूर्ण इनसे आवृत है।

19- समाधि की स्थिति

सहज प्राकृतिक अवस्था में हम जाग्रत अवस्था में पांचों कोशों का अनुभव करते हैं, स्वप्र में अन्नमय कोश छूट जाता है तथा सुषुप्ति में विज्ञानमन, मनोमय और प्राणमय कोश भी छूट जाता है किन्तु आनन्दमय कोश का अनुभव बना रहता है जो पूर्णता की अनुभूति सुषुप्ति में भी नहीं होने देता। समाधि में यह आनन्दमय कोश भी अनावृत हो जाता है तो आत्मा केवल आत्मा की अनुभूति करती है। यही पूर्णता की अपरोक्षानुभूति है–

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्धचेयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते। [26]

20- मन तथा इन्द्रियों का स्थान

उपर्युक्त विवेचन में यह तो कह दिया गया कि निष्काम कर्म को शंकराचार्य ईश्वर प्रीति तथा सत्त्वशुद्धि का साधन मानते है और सकाम कर्म को ही बन्धन का कारण मानते है न निष्काम कर्म को। तथापि मन, इन्द्रियादि से आत्मा को नहीं जाना जा सकता– ऐसा श्रुति बारबार कहती है। इसे सुनकर कई बार ऐसा भ्रम होता है कि साधक के लिए मन तथा इन्द्रियों को कोई महत्त्व नहीं है। इस संबंध में शंकराचार्यका स्पष्ट मत है कि मन तथा इन्द्रियाँ यदि सत्व प्रधान होंगी तो स्वाध्याय द्वारा अथवा श्रवण द्वारा मनन में सहायता मिलेगी। अतः इनका भी साधन के रूप में पूरा महत्त्व है। किन्तु साध्य तो आत्मा ही है क्योंकि वहीं पूर्णता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं।

---

[25]वेदान्तसार, पृ. 201।
[26]पंचदशी, 55।

इसलिये वेदान्त का अधिकारी वही है जिसने विधिवत् वेद– वेदान्त पढ़ लिया हो जिससे उसका अभ्युदय तो सिद्ध होता ही है अन्तः करण भी निर्मल हो जाता है[27]। अतः वेदान्त यदि उत्तरमीमांसा है तो उसका पूर्वार्ध पूर्वमीमांसा हैं और दोनों ही श्रुतिसम्मत हैं।

एक श्रुति का और प्रसंग भी है जहाँ मन आदि उपकरणों का महत्त्व स्पष्ट होता है एक ओर श्रुति स्पष्ट कहती है कि मन से ही आत्मा का दर्शन करना चाहिए– **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** तथा दूसरी ओर श्रुति यह भी कहती है कि मन के द्वारा आत्मा को नहीं जाना जा सकता–**मनसा न मनुते।** आपाततः इन दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली श्रुतियों में विरोध का परिहार करते हुए शांकर वेदान्त का यह कहना है कि मन से अज्ञान के निवृत्ति रूप फल की प्राप्ति तो होती ही है अर्थात् परोक्षानुभूति तो होती है किन्तु अपरोक्षानुभूति में मन नहीं रहता–

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृतभ्दिर्निवारितम्

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता

ब्रह्म तो स्वयम्प्रभ है अतः उसके ज्ञान में मन की आवश्यकता नहीं किन्तु ब्रह्म संबंधी अज्ञान के निवारण में मन काम आता है।[28]

इस विवेक का फलितार्थ यह है कि अपरा विद्या, विज्ञान, पदार्थज्ञान आदि अभ्युदय कारक तत्त्व साधन तो हैं, किन्तु साध्य नहीं। दूसरे शब्दों में धन आदि अपूर्ण हैं किन्तु साधन के रूप में वह पूर्ण आत्मा की अनुभूति में सहायक बन सकते हैं। यही अभ्युदय तथा निःश्रेयस का समन्वय है जो शांकर वेदान्त को भी स्वीकार है। जब कठोपनिषद् में यमराज यह कहता है कि मैंने अनित्य द्रव्य से नित्य को प्राप्त कर लिया है तो उसका यही अभिप्राय है कि अनित्य साधन है नित्य साध्य है–**अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।**[29]

अनित्य का नित्य मानकर न चले, उसे अनित्य ही मानें तो अनित्य का भी साधन के रूप में महत्त्व है धर्म अर्थ और काम का त्रिवर्ग त्रिगुणात्मक है और यह भी पुरुषार्थ है किन्तु कनमपुरुषार्थ तो मोक्ष, आत्मा, ब्रह्म, अथवा पूर्णता ही है। उसे प्राप्त किये बिना कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता– **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

संदर्भ ग्रन्थ :

1. ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2064
2. गौडपादकारिका, श्रीरामकृष्ण आश्राम, मैसूर, 1949
3. दयानन्द भार्गव, अभिनववेदपाठमाला, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, 2016
4. योग दर्शन, गीताप्रेस गोरखपु, सम्वत् 2073
5. वेदान्तसार, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2004
6. शतपथ ब्राह्मण, गोपिन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1988

---

[27]वेदान्तसार, पृ. 121।
[28]उपरिवत, पृ0 255।
[29]कठोपनिषद, 1.2.10।

7. श्री पञ्चदशी, भाग1, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुंबई, 2099
8. श्रीमभ्दगवद्रीता, शांकरभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2055
9. *David frawley*, *Vedantic meditation*, *full circle*, *delhi*, 2000
10. *Krishnmurti*, *foundation*, *Trust*, *Ltd*, 1980